

नाटक तो नाट्य के विभिन्न प्रकारों में से एक प्रकार है। दृश्यकाव्य के लिए नाट्य, रूप अथवा रूपक—ये तीन शब्द हैं जैसा कि पूर्व में वर्णित किया जा चुका है

रूपक अथवा नाट्य के विभिन्न नियमों का विधान करने वाले शास्त्रकारों ने रूपक के दस भेद अथवा प्रकार परिगणित किये तथा कतिपय उपरूपक भी स्वीकार किये। उपरूपकों की संख्या तो भिन्न-भिन्न शास्त्रकारों ने अट्ठारह या बीस मानी किन्तु रूपक दस ही है। दृश्यकाव्य के इन भेदों से नाट्य की लोकप्रियता तथा विस्तृत विकास का सहज ही आभास हो जाता है।

रूपक भेद इस प्रकार है—

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः ।

ईहामृगांकवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश ।।⁶

अर्थात्, नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और ईहामृग ये रूपक के दश भेद हैं।

सभी नाट्याचार्य 'नाटक' को ही सर्वश्रेष्ठ रूपक प्रकार माना करते हैं। 'नाटक' में अन्य रूपकों की अपेक्षा रंजनाधिक्य रहा करता है। अधिकाधिक रसाविर्भाव हुआ करता है और सर्वांगीण अभिनय सौन्दर्य दिखयी दिया करता है।

रूपक के दश प्रकारों में नाटक नामक प्रथम प्रकार के स्वरूप का निर्देश —

नाटक —आचार्य विश्वनाथ के अनुसार नाटक का निर्दिष्ट लक्षण —

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पंचसंधिसमन्वितम् ।

विलासद्वय्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ।।⁷

सुखदुःखसमुदभूति नानारसनिरन्तरम् ।

पंचादिका दशपरास्तात्रांकाः परिकीर्तिताः ।।⁸

प्रख्यातवंशो राजर्षिधीरोदात्तः प्रतापवान् ।

दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ।।⁹

एक एवं भवेदङ्गी शृंगारो वीर एव वा ।

अंग मन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽदभुतः ।।¹⁰

चत्वारः पंच वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।

गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ।।¹¹

अर्थात् नाटक नामक रूपक वह दृश्यकाव्य है जिसकी शरीरा रचना किसी प्रसिद्ध वृत्त से ली जाया करती है अर्थात् नाटक का वृत्त (चरित्र) इतिहास पुराणादि से प्रसिद्ध होना चाहिए। वह मुख्यादि पाँच सन्धियों से तथा अनेक विभूतियों से युक्त होना चाहिए। शृंगारादि अनेक रसों से अव्यवहित होता हुआ सुख दुःखादि की अनुभूति कराने वाला अधिकतम दश तथा कम से कम पाँच अंकों वाला नाटक होता है। इसका नायक प्रख्यात वंश का राजर्षि, धीरोदात्त,

⁶ सा० द० 6-3

⁷ सा० द० 6-7

⁸ सा० द० 6-8

⁹ सा० द० 6-9

¹⁰ सा० द० 6-10

¹¹ सा० द० 6-11

प्रतापी, और नायकोचित गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। दिव्य अदिव्य या दिव्यादित्य तीनों में से कोई भी महान व्यक्ति हो सकता है। शृंगार या वीर में से कोई एक प्रधान रस होता है। अन्य सभी रस गौड़ होते हैं तथा निर्वहण सन्धि में अदभुत रस होता है। नाटक में कुल चार या पाँच मुख्य पुरुष कार्य में संलग्न होते हैं। गोपुच्छ के समान अंगों को समायोजित करना चाहिए।

‘नाटक’ के लक्षण को व्याख्यायित करते हुए साहित्यदर्पणकार कहते हैं –

नाटक के ‘ख्यातवृत्त’ होने का अभिप्राय है उसके इतिवृत्त के रामायण आदि के प्रसिद्ध राम आदि महापुरुषों के चरित के आधार पर रचे जाने से है। नाटक का (इतिवृत्त सन्धान रूप) सन्धि पंचचक –

यथासंख्यमवस्थाभिराभिर्थागान्तु पंचचभिः।

पंचधैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः पंच सन्धयः।¹²

अर्थात् पाँच अवस्थाओं से समान्वित होकर पाँच अर्थप्रकृतयः ही क्रम से मुख इत्यादि पाँच सन्धियाँ बन जाती हैं। अतः पंच सन्धियों को व्याख्यायित करने से पूर्व क्रमशः पंच अर्थप्रकृतियों और पंचावस्थाओं के विषय में जानना आवश्यक है क्योंकि इन दोनों के संयोग से ही पंचसन्धियों का निर्माण हुआ है।

पाँच अर्थप्रकृतियों से तात्पर्य ‘अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतवः’ कहा गया है ये अर्थप्रकृतियाँ – **बीज, बिन्दु पताका, प्रकरी और कार्य** है।

बीज – उस फल का निमित्त बीज कहलाता है, जिसका आरम्भ में सूक्ष्म रूप से संकेत किया जाता है और आगे चलकर अनेक प्रकार से विस्तार हो जाता है।¹³ **यथा**– रत्नावली के आरम्भ में, यौगन्धरायण के व्यापार का जो वर्णन है जिसपर वत्सराज उदयन की सागरिका प्राप्ति निर्भर है, वह बीज रूप अर्थप्रकृति की ही योजना है।

बिन्दु – अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति से कथावस्तु के (मुख्य) प्रयोजन में विच्छेद प्राप्त हो जाने पर जो उसके अविच्छेद (सातत्य) का कारण होता है। वह बिन्दु कहलाता है।¹⁴ **उदाहरणार्थ**– रत्नावली का वह प्रसंग पर्याप्त है जहाँ सागरिका की कामपूजा समाप्त होने पर वृत्त विच्छेद संभव है किन्तु बन्दी के इस वाक्य अर्थात् ‘अस्तापास्तसमस्तभासि—दशामुदयनस्येन्दोरिवोद्धीक्षते’ के सुनने के बाद सागरिका की इस उक्ति अर्थात् क्या यही महाराज उदयन है, आदि से अग्रिम इतिवृत्त अविच्छन्न रूप से चल निकलता है।

पताका – वह प्रासङ्गिक इतिवृत्त है जो व्यापक हुआ करता है और प्रधान फल का सहायक बना करता है।¹⁵ **जैसे**– रामचरितसम्बन्धी रूपक प्रबन्धों में सुग्रीवादि से सम्बन्धित वृत्तान्त।

प्रकरी– यह वह अर्थप्रकृति है जिसे रूपक प्रबन्धों के अल्पदेश व्यापक प्रासङ्गिक का वृत्त के रूप में देखा जाया करता है।¹⁶ **उदाहरणार्थ**– ‘कुलपत्यंक’ के रावण—जटायु—संवाद—सम्बन्धी वृत्तान्त को लिया जा सकता है।

कार्य – कार्यरूप अर्थप्रकृति का अभिप्राय उस प्रधानतया अवस्थित साध्य का है जिसके उद्देश्य से नायक के कृत्यों का आरम्भ हुआ करता है और जिसकी सिद्धि में नायक का कृत्यानुष्ठान समाप्त माना जाया करता है।¹⁷ **यथा**–रामचरितसम्बन्धी रूपक प्रबन्धों में ‘रावणवध’ वह कार्यरूप अर्थप्रकृति ही निदर्शन है।

¹² सा० द० 6-74

¹³ सा० द० 6-65

¹⁴ सा० द० 6-66

¹⁵ सा० द० 6- पृ० 400

¹⁶ सा० द० 6-68

¹⁷ सा० द० 6-69

पाँच अवस्थाओं से तात्पर्य – फल की इच्छा वाले व्यक्ति के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं¹⁸ –

1) आरम्भ 2) यत्न 3) प्राप्याशा 4) नियताप्ति 5) फलागम ।

आरम्भ— प्रचुर फल की प्राप्ति के लिए उत्सुकता मात्र होना ही आरम्भ कहलाता है।¹⁹ **यथा**—रत्नावली में, नायक वत्सराज उदयन के अन्तःपुर में नायिका रत्नावली के निवेश के लिए, अमात्य यौगन्धरायण की जो उत्सुकता है उसमें आरम्भावस्था की ही योजना परिलक्षित होती है।

प्रयत्न— फल के प्राप्त होने पर (उसके लिए) अत्यन्त वेगपूर्वक उद्योग करना ही प्रयत्न कहलाता है।²⁰ **यथा**—रत्नावली में, उदयन से मिलने के लिए रत्नावली का चित्रलेखन सम्बन्धी व्यापार।

प्राप्याशा— उपाय के होने तथा विघ्न की शंका होने से जो फलप्राप्ति की सम्भावना (मात्र) होती है वह, प्राप्याशा कहलाती है।²¹ **यथा**—रत्नावली के तृतीय अंक में—रत्नावली के वासदत्तावेश में अभिसाररूप संगमोपाय(साधक) और वासवदत्ता की उपस्थिति के रूप में उसके संगमोपाय(प्रतिबन्धक)के द्वन्द्व में, उदयन मिलन रूप फल की सम्भावना का जो चित्रण है वह प्राप्याशावस्था की ही योजना है।

नियताप्ति— विघ्नो के अभाव से फल की नियताप्ति रूप से प्राप्ति ही नियताप्ति कहलाती है।²² **यथा**—वासवदत्ता प्रसादरूप उपाय के द्वारा, उदयन मिलन के विघ्नो की निर्वृत्ति में, उदयन मिलन की सम्भावना का जो निश्चय है उसमें 'नियताप्ति' की ही झलक दिखायी दिया करती है।

फलागम— पूर्णरूप से फल की प्राप्ति ही फलागम है।²³ **यथा**— 'रत्नावली' में ही, नायक वत्सराज उदयन के रत्नावली लाभ और साथ ही साथ चक्रवर्तित्व लाभ का जो वर्णन है वह 'फलागम' की अवस्था की ही योजना है।

पाँच अर्थप्रकृतियों और पाँच अवस्थाओं का वर्णन करने के पश्चात् उनके संयोग से निष्पन्न अब क्रमशः मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति इन पाँच सन्धियों का वर्णन करने जा रहे हैं—

मुख सन्धि— जहाँ अनेक प्रकार के प्रयोजन और रस को निष्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति होती है और जिसके साथ नायक की प्रारम्भावस्था सम्बद्ध रहा करती है, वह मुखसन्धि है। बीज और आरम्भ के समन्वय से इसके बारह अंग हो जाते हैं।²⁴ **यथा**— 'रत्नावली' नाटिका के प्रथम अंक की जो अर्थराशि है वह मुखसन्धिरूप है।

प्रतिमुख सन्धि— जहाँ उस बीज का कुछ लक्ष्य रूप में और कुछ अलक्ष्य रूप में उदभेद होता है वह प्रतिमुख सन्धि कहलाती है। बिन्दु नामक अर्थप्रकृति और प्रयत्न(नामक कार्यावस्था) के योग से इसके तेरह अं" होते हैं।²⁵ **यथा**—रत्नावली के द्वितीय अंक की जो अर्थराशि है वह 'प्रतिमुखसन्धि' रूप अर्थराशि है।

गर्भ सन्धि— इस सन्धि को गर्भ इसलिए कहा करते हैं क्योंकि इसमें नाटक का प्रधान फल गर्भित प्रतीत हुआ करता है। **जैसे**— रत्नावली के द्वितीय अंक में गर्भ सन्धि परिलक्षित होती है।²⁶ इसके बारह अं" होते हैं।

18 सा० द० 6-70

19 सा० द० 6-71

20 सा० द० 6- पृ० 405

21 सा० द० 6-72

22 सा० द० 6- पृ० 407

23 सा० द० 6-73

24 सा० द० 6-76

25 सा० द० 6-77

26 सा० द० 6-78

विमर्श(अवमर्श)सन्धि— वह सन्धि है जिसमें गर्भ सन्धि में उदिभन्न प्रधानोपाय रूप बीज और भी अधिक, उदिभन्न प्रतीत हुआ करता है और साथ-साथ बाह्यपरिस्थिति (जैसे कि शापादि) के कारण आने वाली विघ्नबाधाओं से भी लड़ना दिखायी दिया करता है।²⁷ **उदाहरणार्थ**—‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के चतुर्थ अंक के आरम्भ में परिलक्षित है।

निर्वहण सन्धि— जहाँ बीज से सम्बन्ध रखने वाले मुख सन्धि आदि में अपने-अपने स्थान पर (यथायथम्) बिखरे हुए (प्रारम्भ आदि) अर्थों का एक (मुख्य) प्रयोजन के साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है। वह निर्वहण सन्धि कहलाती है।²⁸

उदाहरणार्थ— अभिज्ञानशाकुन्तल के सप्तांक में शकुन्तला की पहचान की घटना के बाद की जो वृत्त योजना है उसे भी ‘निर्वहण’ के निदर्शन रूप ले सकते हैं।

पंचसन्धियों के पश्चात् नाटक के नानाविधियों से युक्त होने का अभिप्राय उसमें नायक के समान महनीय चरित्रवाले सहायको के चरित्र चित्रण का अभिप्राय है। नाटक का सुखदुःख समुद्भव, यह तो राम युधिष्ठिर आदि महापुरुषों के चरित्र चित्रणों से युक्त नाटकों में स्पष्ट ही है। राजर्षियों से अभिप्राय दुष्यन्त आदि सरीखे महनीय राजवंशोद्भव महापुरुषों से है। दिव्य चरित्र नायकों का तात्पर्य भगवान श्री कृष्ण आदि सरीखे नायकों का हैं और दिव्यादिव्य नायको से श्री रामचन्द्र सरीखे नायक समझे जा सकते हैं। जो दिव्य अथवा भगवदवतार होने पर भी मानवलोक में मानव सा व्यवहार किया करते हैं। नाटक के गोमुच्छाग्रसमान होने का तात्पर्य कतिपय नाट्यकोविदों की दृष्टि में उसके अंगों का क्रमशः छोटे होते जाना है। किन्तु अन्य नाट्य मर्मज्ञ इसका जो अभिप्राय लेते हैं वह यह है कि जैसे— गोपुच्छ में कुछ बाल कहीं छोटे होते हैं और कहीं बड़े होते हैं, वैसे ही नाटकों में भी कुछ वृत्त वर्णन अथवा चरित्र चित्रण ऐसे हुआ करते हैं जो मुख सन्धि में ही समाप्त हो जाया करते हैं कुछ ऐसे हैं जो प्रतिमुख सन्धि में समाप्त होते हैं इसी भाँति कुछ गर्भ में और कुछ विमर्श में और कुछ निर्वहण में समाप्त हुआ करते हैं।

वस्तुतः भारतमुनि के द्वारा नाट्यशास्त्र (1-107 से 115) में **नाटक** के महत्व का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। उनका कथन है कि — इससे केवल धर्म एवं देवों की ही चर्चा नहीं होती है अपितु विश्व की समस्त भावनाओं का प्रदर्शन किया जाता है। इसमें जीवन की समस्त घटनाओं का चित्रण रहता है, जैसे —धर्म, मनोरंजन, हास्य, युद्ध, श्रृंगार, श्रम आदि। प्रत्येक दर्शक अपनी भावना के अनुकूल फलप्राप्त करता है। नाट्य के द्वारा दर्शकों में उत्साह की वृद्धि होती है। अपढ़, सुपढ़ हो जाते हैं और सुपढ़ विशेषज्ञ हो जाते हैं। यह धनियों के लिए मनोरंजन दुःखितों के लिए आश्वासन, व्यवसायियों के लिए आय का साधन और व्याकुलों के लिए शान्तिप्रद है।

इसमें विविध जीवन-चर्याओं का निरूपण रहता है। यह बड़े से लेकर छोटे तक सभी के लिए द्वितोपदेशक, मनोरंजक और सुखप्राद है। इससे सभी का दुःख दूर हो जाता है, चाहे वा दुःखित हो, चाहे वह थका हो, विकल हो या साधु हो। इससे मनुष्य की सभी इच्छायें पूरी होती हैं **जैसे**—धर्म, यश, स्वास्थ्यलाभ, ज्ञान—वृद्धि और आचार—लाभ इत्यादि।

²⁷ सा० द० 6-79

²⁸ सा० द० 6-80

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. नाट्यशास्त्रम्, व्याख्याकार प्रो० ब्रजमोहन चतुर्वेदी, विद्यानिधि प्रकाशन दिल्ली ।
2. दशरूपकम्, सम्पादक डॉ० श्रीनिवास शास्त्रिणा, साहित्य भण्डार, मेरठ ।
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास (लौ०खण्ड), लेखक डॉ० प्रतिभा गोयल, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर ।